



मध्यकालीन संत साहित्य में प्रेमदर्शन का अध्ययन

सरिता देवी

शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा, मध्य प्रदेश, भारत।

सारांश

जीवन में प्रेम की व्यापक महत्ता होने के कारण साहित्य में इसका सर्वाधिक महत्व है। 'एकोअहम् बहु स्याम' में भी इसी महत्ता का अन्तर्भाव है एवं सृष्टि का प्रसार इसी अन्तः प्रेरणा द्वारा होता है। यह प्राकृतिक और सहज स्वाभाविक प्रेरणा आरम्भ में सामाजिक बन्धन को स्वीकार नहीं कर पाती किन्तु मनुष्य की वासनाएँ सामाजिक प्रतिबन्ध में ही प्रतिफल होती है। प्रकृति की सहज अन्तःप्रेरणा और समाज के परम्परागत बन्धन में ही प्रेम का प्रतिफलन होगा।

मूल शब्द: मध्यकालीन, संत साहित्य, प्रेदर्शन।

प्रस्तावना

मानवीय अन्तवृत्तियों में रति-भाव अथवा काम का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, कुछ अंशों में सम्पूर्ण जीवन काम भावना से अभिरंजित है। चार पुरुषार्थों में परिगणित होकर काम का महत्व अक्षुण्य रहा। आहार, परिषद और संतान मनुष्य की तीन प्रधान इच्छायें हैं। 'काममय एवार्य पुरुष' 'चित्तं वै वासनात्मम्', 'काममय' एवं 'इच्छामयः' इत्यादि उक्तियों में काम की सर्वव्यापकता ही स्वीकृत है। रति-भावना, आत्म-विस्तार का साधन है, सन्तानेच्छा के मूल में अमरता की धारणा है। आहार था, अस्तित्व का कारण है और मैथुन रति-भाव, प्रजनन और विस्तार का रति भावना को ही जैन दर्शन में मैथुन संज्ञा, बौद्ध दर्शन में काम-तृष्णा और चरक संहिता में प्राणेषणा कहा गया है। ऐषणाओं की परितृप्ति द्वारा सुख प्राप्ति ही मानव जीवन का लक्ष्य रहा। काम-सूत्र के अनुसार, पांच ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषयों में जो अपनी प्रकृति के अनुकूल प्रीतिकर, सुखद पदार्थ है, उनके अनुभव की इच्छा ही काम सामान्य है। 'कामः सर्वमयः पुंसां स्व संकल्प समुद्भवः, कामात् सर्वे प्रवर्तन्ते, लीयन्ते बुद्धिमागताः' में भी काम की ही प्रतिष्ठा है। कामदेव अपनी इयन्ता सिद्ध करने के लिए कहता है – "मेने सुरपति इन्द्र को गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या का जाट बनाया, चन्द्रमा को अपने गुरु वृहस्पति की पत्नी तारा से व्याभिचार करा दिया, स्वयं ब्रह्मा को अपनी पुत्री सरस्वती के पीछे दौड़ा दिया, मेरे वाणो को सारे संसार के उन्मथन में क्या कोई भ्रम है? मैंने किसको अपथ पर नहीं चलाया"।¹

सम-भावगत प्रेम के निम्नलिखित स्वरूप साहित्य में मिलते हैं –

1. किसी कुमारी का किसी कुमार के प्रति अथवा किसी कुमार का किसी कुमारी के प्रति प्रेम जिसका अन्त विवाह अथवा चिर वियोग में होता है। यौन-वृत्ति की परितृप्ति के साथ आत्मिक आनन्द की चेतना इसमें रहती है। वासना पूर्ति का माध्यम यहाँ सामान्य नहीं रहकर विशिष्ट होता जाता है। मुक्त प्रेम की प्रथम अवस्था में सामाजिक मान्यताएँ कुण्ठा उपस्थित करती हैं। मिलन की आतुरता और विकृता विशेष रहती है। ऋग्वेद में यमी के इसी प्रकार के प्रेम का वर्णन है, यमी का अपने भाई के प्रति ऐसा प्रेम सफल नहीं होता। स्वच्छन्द और मुक्त सामाजिक अवस्था में आतुरता और विह्वलता की अधिक अपेक्षा नहीं रह जाती, कारण मिलन के मार्ग की बाधाएँ अपेक्षाकृत अधिक विषम नहीं रहती। इस प्रेम की आरम्भिक अवस्था में गाम्भीर्य और विस्तार की अपेक्षा उद्वेग और उद्विग्नता का आधिक्य रहता है। प्रेम की

अभिव्यक्ति क्रिया व्यापार के माध्यम से होती है। नर और नारी के प्रेम में अन्तर है। नारी पुरुष से यौन संतुष्टि चाहती है यह सत्य है। पुरुष में वैसी भावना जागने पर नारी में यह वृत्ति पुरुष के प्रति जागृति होती है जिसके कारण यह अपने जीवन को न्योछावर कर सकती है। साधारण से साधारण त्याग कर सकने की अक्षमता में भी पुरुष इन्द्रिय-जन्य परितृप्ति की आकांक्षा रखता है। साधारणतया ऐसी धारणा प्रचलित है कि नारी में प्रेम आत्मिकता से ऐन्द्रियता की ओर उन्मुख होता है और आत्म-निर्भर होता है। नारी का शारीरिक गठन अधिक रागात्मक आवेश और उद्वेगशीलता प्रदान करता है, अतः उसका प्रेम अधिक प्रदर्शनशील। भारतीय साहित्य की नारी विह्वलता और आतुरता इसी तथ्य पर आधारित है। साधारण स्थित में दर्शनजन्य पारस्परिक आकर्षण, तत्पश्चात् प्रतीतिजन्य उन्मेष और भावात्मकता की सृष्टि होती है। ऐसे प्रेम का गम्भीर्य मिलन की एकात्मकता और विरह की विह्वलता में प्रकट होता है।

2. अन्तःपुर की सीमाओं में राजकीय स्त्रेणता के पौरुषहीन, निस्सार और उत्कट वासनाजन्य प्रेम की अभिव्यक्ति साहित्य में होती रही है। यह व्यौहारिक कामुकता है, प्रेम की गम्भीर स्थिति नहीं। कामशास्त्रीय वशीकरण के सारे साधनों का उपयोग यहाँ होगा ऐसा प्रेम उस सामाजिक स्थिति का सूचक है जिसमें प्राकृतिक जीवन अधिकाधिक अवरुद्ध और रूढ़ हो चुका रहता है। नागरिक सभ्यता के विकृति के ही दर्शन इसमें सम्भव है। जीवन के पूर्ण उल्लास और विषाद के अवसर इस प्रेम में प्राप्त नहीं होते। नारीत्व सम्मान का विषय नहीं रहता, मात्र वासना पूर्ति का साधन। नगर प्रेम का दूसरा स्वरूप विलास क्रीडाओं में अभिव्यक्त होता है। जिसमें नवयौवना प्रेमिकाएँ मुख्य भाग लेती हैं। इस सामाजिक जीवन में वेश्याओं का महत्वपूर्ण स्थान हो जाता है।

3. प्रेम का आदर्श रूप वह माना जाता है जिसका उत्कर्ष विवाह के पश्चात् दिखाई पड़ता है और जिसका उत्तरोत्तर विकास जीवन क्रम में होता है। ऐसे प्रेम में एक निष्ठता के साथ न्यस्त कर्तव्य का भाव निहित रहता है। प्रेम पाशविक तृप्ति नहीं, मात्र कर्तव्य निष्ठा नहीं, बल्कि मिश्र भावना है। विवाहित पुरुष और नारी में वृत्ति का उन्मेष और तादात्म्य न हो तो लौकिक दृष्टि से विवाह होने पर भी शरीर-शरीर का मिलन होने पर भी त्यक्तिक रूप में प्रेम नहीं है। साहित्यशास्त्रियों की दृष्टि में स्वकीयत्व रहने पर स्वकीया प्रेम की संज्ञा इसे

नहीं मिलनी चाहिए। स्वकीयत्व अथवा परकीयत्व की कसौटी विवाह नहीं बल्कि मानसिक वृत्ति है, जिसके कारण दो स्वतंत्र व्यक्ति अपनी अपनी विच्छिन्नता त्याग कर अविच्छिन्न रूप में आबद्ध होते हैं। वह विवाह जिसमें स्वेच्छापूर्वक बन्धन स्वीकार किया जाता है और कर्तव्य निष्ठा भी भावना से वैवाहिक सम्बन्ध के कारण जागृत प्रेम में विभिन्नता है। यहाँ विवशता होती है, विवशता प्रेम नहीं, प्रेम की अपनी विशेषताएँ होती हैं, यह अलग कथा है।

4. प्रेम का एक स्वरूप है, राधा कृष्ण का प्रेम जिसमें विवाह का बन्धन नहीं, सामाजिकता का नियंत्रण नहीं। प्रेम की जिसमें विरह की परिणति है। यह चिर विदग्ध और जागृत है। भावभरी नारी अपने आपको प्रिय पर उस न्यौछावर कर मिलनोत्कण्ठिता नहीं, भावना की उन्मुक्त और अवाधित अभिव्यक्ति है। दार्शनिक तत्ववाद के कारण वैष्णव प्रेम और मधुर भक्ति पर इस प्रकार के प्रेम का प्रभाव है। गीत गोविन्द की राधा में प्रतीकात्मक और अध्यात्मिक मधुर रति के साथ उन्मुक्त प्रेम का सजीव रूप है। राम और सीता के विरह से कृष्ण और राधा के विरह में अन्तर है। सीता पाताल प्रवेश कर भी भावोन्माद की वह स्थिति प्राप्त नहीं कर पाती जो राधा के लिए सहज ही सम्भव हो सकी थी। सीता के प्रेम का गम्भीर और संयम कर्तव्यनिष्ठा का परिचायक है और राधा के विरह की तीव्रता, उद्वेग और भावोन्माद में गम्भीरतम आकांक्षा की प्रेरणा और स्फूर्ति है।
5. भारतीय साहित्य में जहाँ विरह की व्याकुलता और असह्य वेदना स्त्रियों के मत्थे अधिक मढ़ी गई है, वहाँ वह फारसी शैली में पुरुषों के बाँटे पड़ी है। भारतीय नारी के विरहोच्छ्वास में विवशता के आंसू थे। स्त्री-पुरुष के प्रेम के अन्तर की जो परिकल्पना है उसमें वैसे पुरुषों का ध्यान नहीं रखा गया है जो भावात्मक रूप में नारियाँ हैं और न वैसे नारियों का ही जो प्रखण्डता में पुरुषों से भी अधिक होती हैं, यौन विहार से ही विभाजन उपयुक्त नहीं। सामाजिक स्थिति का प्रभाव अभिव्यक्ति पर पड़ता है। समानाधिकार देने वाले समाज में दोनों चेष्टाओं और क्रियाओं का वर्णन प्राप्त होता है।

काम की दो मर्यादायें हैं – रति और प्रीति।² रति और प्रीति का सपत्नी होना उनके कलह से अधिक उनकी सगोत्रता का परिचायक है। रति शारीरिक और प्रीति मांसिक क्रियायें हैं। प्रीति का क्रियात्मक स्वरूप रति और रति का मांसिक पक्ष प्रीति है, रति केवल शारीरिक चुभषा की तृप्ति मात्र नहीं बल्कि अध्यात्मिक-मानसिक सन्तुष्टि है।

साहित्यशास्त्र में पूर्वरग का उल्लेख है, गुण श्रवण आदि के कारण उत्पन्न रागात्मक आवेश एक प्रकार का लोभ ही माना गया है। सन्त-साहित्य में पूर्वरग के एक दूसरे पक्ष की ओर ध्यान दिया गया। आत्मा को अपने स्वरूप का विस्मरण हो जाता है, अनेक प्रकार के मायिक पाश उसे आबद्ध कर लते हैं और अंजनावृत्त आत्मा चैतन्य के प्रकाश को नहीं देख पाती।

प्रेम और रति

आदिम धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति के माध्यम में लैंगिक प्रतीकों का अभाव नहीं बल्कि आधिक्य है। संसार की सृष्टि का प्रतीकात्मक वर्णन जनन-क्रिया का द्योतक है। समुद्र और प्रलय जल, कमल-नाल और कमल-कोष में प्रसुप्त ब्रह्मा, अक्षय घट के द्रोण में शिशु रूप सृष्टिकर्ता, जनन क्रियाओं के प्रतीक हैं। प्रेम, प्रीति, श्रद्धा, करुणा, दया, क्षमा, भक्ति, स्नेह, वात्सल्य, सौहार्द आदि का आधार यही रति भावना है। रतीच्छा की तृप्ति के लिए सौन्दर्य, लालसा और आकर्षण शक्ति प्रयोजनीय है।³ किन्तु व्यक्ति की विशिष्टता अपेक्षित नहीं। प्रेम सामान्य का विशेषीकरण

है। प्रेमी की तृप्ति अन्य किसी के सानिध्य अथवा समीप्य से नहीं होती, उसकी सारी वासनाएँ, भावनाएँ व्यक्ति विशेष पर केन्द्रित हो जाती हैं। रति ही प्रीति नहीं, प्रीति रति-मात्र नहीं। मैकडूगल ने प्रेम में यौन वृत्ति और मातृत्व-भावना का सम्यक सामंजस्य देखा है। सौन्दर्य का आकर्षण व्यक्ति को आकृष्ट करता है, उससे अधिक सौन्दर्य देखकर यदि उसकी वृत्ति चंचल हो उठे, उसके प्रति आकर्षण जग जाय और प्रत्येक उत्कर्षमय सौन्दर्य-दर्शन के अवसर पर उपस्थित हो जाय तो यह प्रेम नहीं बल्कि वासना विकृत लोभ मान है। वासना की तृप्ति व्यक्ति के प्रति उपेक्षा अथवा घृणा का भाव उत्पन्न करती है, शारीरिक तृप्ति के पश्चात् व्यक्ति महत्वहीन हो जाता है किन्तु प्रीति उत्तरोत्तर विकसित, प्रगाढ़ और गम्भीर हो जाती है। प्रेम की स्थिरता का कारण सौन्दर्य, शरीर धर्म अथवा विवशता नहीं बल्कि प्रेमी की भाव प्रवणता और भावुकता है। प्रेमी प्रिय से प्रेम नहीं करता, वह प्रेम करता है, प्रिय सम्बन्ध जनित अपनी भावात्मकता से। प्रिय के माध्यम से अपने व्यक्तित्व की पूर्णता का विस्तार उसे प्राप्त होता है। प्रेम चेतना क्रिया नहीं बल्कि अचेतन भावनात्मक अभिव्यक्ति है, प्रेम की अवधि तक सौन्दर्य पूर्ण भावात्मकता की अपेक्षा बनी रहती है।

प्रेम की विविध स्थितियाँ

प्रेम की प्रथम अवस्था अथवा स्थिति में प्रेमी के अन्तर में एक अव्यक्त और अव्याख्येय भावना जागृत हो जाती है। सामान्य वासना और प्रेम की इस स्थिति में न तो अन्तर ही अधिक गहरा रहता है और न अधिक स्पष्ट ही। वासना का सामान्य धर्म किसी वस्तु के प्रति आकर्षण है जिसमें स्थिरता का अभाव रहेगा। प्रेम की इस स्थिति में वस्तुगत सम्बन्ध नहीं रहता अथवा इस प्रकार कहा जा सकता है कि वस्तु के साथ भावनात्मक सम्बद्धता प्राप्त नहीं रहती। अभाव की भावना सजग रहती है किन्तु सन्तुष्टि का साधन अलक्ष्य रहता है। भावना का वृत्त तो रहता है किन्तु केन्द्र का सम्यक ज्ञान नहीं। प्रिय के विशेषत्व के अभाव में चेतना अन्वेषण तो करती है किन्तु लक्ष्य की निर्दिष्टता के अभाव में इधर-उधर लक्ष्यहीन सी चक्कर काटती ही रहेगी। यह कामावस्थागत यौन वृत्ति का सामान्य कामना स्वरूप रूपान्तर है जिसके आधार पर उदान्त वृत्तियों का संगठन होता है।

प्रेम की दूसरी अवस्था में सामान्य कामना विशिष्ट हो जाती है और विशेष के साथ प्राप्त कर लेती है, सम्बद्धता। अब यह केन्द्रच्युत धूमकेतु नहीं, बल्कि निश्चित कक्ष पर घूमने वाला नक्षत्र है। आँखें लड़ जाती हैं, परिचय मिल जाता है, प्रिय का अलौकिक रूप तन में, मन में, नयन में, घर कर लेता है। काम वासना सौन्दर्य की प्रतीति – अनुभूति में समर्थ होती है। सौन्दर्य बाह्य नहीं, बल्कि अपने अन्तर का सौन्दर्य बाह्य उपादान के साथ सम्बद्धता प्राप्त कर लेता है, वस्तुतः आन्तरिक सौन्दर्य भावना का प्रक्षेपण किसी वाह्य वस्तु पर हो जाता है और अपूर्ण व्यक्तित्व की पूर्णता प्राप्त होती है। इस अवस्था में मिलन और विरह का आनन्द जागरित हो जाता है। मिलन का आनन्द, इसलिए कि जिसकी चाह का आन्तरिक आभास मिलता था उससे परिचय प्राप्त कर लिया गया है और विरह का उन्मेष इसलिए कि लक्ष्य की अनिश्चितता के नष्ट हो जाने से उससे दूरत्व का भाव स्पष्ट हो जाता है।⁴

सगुण और सूफी प्रेम

ईख सम्बन्धी धारणाओं के अनुसार, प्रेम के स्वरूप में अन्तर आया है। सगुण मतवाद का विरहोन्माद अधिक तरल और मर्म स्पर्शी है। परकीया-प्रेम में जितनी विदग्धता, व्यग्रता और विह्वलता होगी, उतनी स्वकीया प्रेम में नहीं। जितनी स्थिरता, गम्भीरता और व्यापकता की सम्भावना स्वकीया प्रेम में है उतनी परकीया-प्रेम में नहीं। जगत् यदि सत्य है, जागतिक सम्बन्ध

असत्य नहीं हो सकते और यदि विवर्त तो यहाँ के सारे सम्बन्ध भी अविवर्त नहीं रह सकते। सन्त कवि को विरह भावना तभी तक सजग है जब तक वास्तविकता से पूर्ण परिचय नहीं, कारण परिचय की पूर्णता के साथ वियोगावस्था नहीं रह सकती। यूरोपीय सन्तों के 'रात्रि के अंधकार' से इसकी समता नहीं कारण, यहाँ दर्शन की क्षणिकता नहीं।

सगुण भक्त में व्यक्त का प्रेम है जिसमें अव्यक्त का आभास और विस्तार है। सन्त कवियों में व्यक्त माध्यमों के प्रतीकात्मक विधान द्वारा अव्यक्त प्रेम की उपलब्धि और अभिव्यंजना है। यह प्रच्छन्न कामुकता—मात्र नहीं। वैष्णव कवि प्रिय के एक देशीय व्यक्त स्वरूप को ही प्रेम का आधार मानता है और सन्त व्यक्ति में एकोशीय नहीं देव व्यापक अव्यक्त व्यक्त के साथ सम्बन्ध जोड़ता है। प्रेम के अव्यक्त स्वरूप की अभिव्यक्ति ही अव्यक्त के प्रेम के रूप में हुई। सगुण मतवादी में 'द्वैत' की भावना रह जाती है, अतः उसे सारे व्यापार प्रियारार्थ के लिए है और सन्त कवि तो अपने आपको उससे भिन्न मानता है, अतः उसके चैतन्य स्वरूप के सारे व्यापार ही प्रियाराधन हैं। सगुण भक्त राम और कृष्ण को परमाराध्य मानकर अपने अन्तर की समस्त वृत्तियाँ उनके साथ न्यस्त कर देता है, अतः यह भक्ति ही उसके चैतन्य का कारण है।

संत कवियों का प्रेम दर्शन

मध्यकालीन साहित्य की मूल प्रेरणा है प्रेम, जिसकी विभिन्न परिणतियाँ ही काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त होती रहीं। भावगत पुराण की भाव-धारा ही आड़वारों की भक्ति धारा है। नगर आड़वार भावावेश में स्त्री का रूप धारण कर लेते थे। अंदाज दक्षिणी मीराबाई थी। दक्षिणी शैव भक्तों में नन्द का प्रतिष्ठित स्थान है जिसकी प्रेम लक्षण भक्ति में चैतन्य महा प्रभु का पूर्वाभास देखा जा सकता है। 'गीत गोविन्द' अत्यन्त कोमल भावना और वृत्तियों से परिपूर्ण है। वैष्णव प्रेम का सहजिया स्वरूप बंगाल के चण्डीदास-शुन हे मानुष भाई⁵ और लौकिक स्वरूप मिथिला के विद्यापति में प्रकट हुआ था।

कबीर का प्रेम चेतना प्रधान है, वह चेतना की परिणति है। कबीर के युग की साधना पर विचार करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर को कई प्रकार के विरोधियों का सामना करना पड़ा था। कबीर का प्रबल विरोध अन्तर्भाव शून्य बाह्य आडम्बर से था जिसका प्रतिनिधित्व ब्राह्मण और मुल्ला कर रहे थे। नाथ-पन्थी योगियों की हठ साधना के चेतनाभाव से भी उन्हें लोहा लेना पड़ा, अतः इन दो अतिवादी साधना धारा का विरोध करने में सामंजस्य की धारा फूट पड़ी। पण्डित और योगी ज्ञान के दो स्वरूपों की ओर आकृष्ट थे। पण्डित ज्ञान-स्रोत के रूप में वेदशास्त्र की मान्यता स्वीकार करता था और योगी अन्तर्दृष्टि की प्रमाणिकता। अन्तर्दृष्टि का महत्व स्वीकार करते हुए इसके स्वरूप का नवीन रूप-विधान कबीर ने किया और शास्त्राभिमान को अमान्य किया, कारण शास्त्रों का प्राचीर इनके लिए अवरुद्ध था। वैष्णवीय भक्ति को ज्ञान की महिमा से मण्डित करने का श्रेय कबीर को मिलना चाहिए। ऐसी अवस्था में कबीर का प्रेम सहज ही विशिष्ट स्वरूप रखता है।

निष्कर्ष

प्रेम की पूर्ण स्थिति और परमावस्था में द्वैत-भावना विनष्ट हो जाती है। पृथक सत्ता अहम्-भावना की परिणति है। इस अवस्था में प्रेमी तल्लीन, इतना मस्त हो जाता है, कि तर्क और विकल्पात्मक ज्ञान के लिए स्थान नहीं रह जाता। यह प्रेम मन वाणी के परम अगोचर है। प्रेमी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रिय के व्यक्तित्व में विलयन हो जाता है। वह जिधर देखता है तो केवल प्रिय ही प्रिय नहीं दिखाई पड़ता, बल्कि सम्पूर्ण जीवन प्रियमय हो उठता है जिसमें सत्य-सौन्दर्य की अखण्ड ज्योति जगमगाती है।

इसकी प्रथमावस्था में प्रेमी से भिन्न प्रिय नहीं रहता, प्रेमी और प्रिय दोनों एक रस और अभिन्न हो जाते हैं। इसकी चरम परिणति के रूप में प्रेमी प्रियतम के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाती। निष्कर्षतः प्रिय केवल तन, मन, आँखों में ही नहीं रहता बल्कि जीवन के प्रत्येक कण में छा जाता है।

सन्दर्भ

1. प्रबोध-चन्द्रोदय।
2. कामस्य द्वे भायें रतिश्च प्रीतिश्च।
3. वात्सायन ने अपने काम-सूत्र में भोग्या और अभोग्या नारियों के लक्षणों का वर्णन किया है।
4. दादू दयाल की वाणी, भाग-1, पृ. 39/99
5. चण्डीदास